श्री गुरुजी
- हिन्दू जीवन दृष्टि
श्री गुरुजी
जन्म
शताब्दी वर्ष

हिन्दू जीवन दृष्टि और श्री गुरुजी

१. प्रमाणित वाणी-

१६०६ में स्वामी विवेकानन्द की समग्र कृति की भूमिका में भगिनी निवेदिता ने कहा है कि-"वर्तमान युग के सामान्य बिखराव के मध्य हिन्दुत्व के लिए एक ऐसी चट्टान की आवश्यकता है जो उसके लिए आधार बन जाए, एक अधिकृत वाणी जिसके द्वारा वह अपने को पहचान सके। उसे उसका प्राप्तव्य प्राप्त हुआ है, स्वामी विवेकानन्द की अमर वाणी और उनकी लेखिनी में। (पृष्ठ नौ-परिचय, स्वामी विवेकानन्द की समग्र कृति, भाग-१) कमोवेश इन्हीं शब्दों में श्री गुरुजी द्वारा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक के रूप में तीन दशकों तक देशवासियों को दिये गए संदेश का भी वर्णन किया जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द की तरह ही श्रीगुरुजी के अधिकतर विचार अनेक अवसरों पर दिये भाषण, उनके द्वारा लिखित पत्रों के माध्यम से ही हम तक पहुँच सके हैं। स्थिर बैठकर पुस्तक लिखने का न तो उनके पास समय था और न अभिरुचि, यद्यपि उनकी क्षमता, बुद्धिमत्ता, ज्ञान और इस कार्य के लिए आवश्यक भाषा पर उनका अधिकार असंदिग्ध था। "इतिहास का गहन अध्ययन रहने के बावजूद भी वे इतिहास पर पुस्तकें क्यों नहीं लिखते?" इस प्रश्न का बहुत ही विशिष्ट उत्तर गुरुजी ने दिया था। "हम इतिहास बनाते हैं-लिखने का काम दूसरों का है"। श्रीगुरुजी अपनी अनन्त यात्राओं, समाज के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों जिनमें अकिंचन, समृद्ध बुद्धिजीवी और अक्षरवंचित सभी प्रकार के लोग थे, के साथ बैठके, दैनिक भाषण और वार्तालापों में जीवन के सभी पक्षों से जुड़े विषयों की, उसका व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष ध्यान में रखते हुए, विवेचना किये हैं। ऐसे क्लांत करने वाले कार्य को सम्पादित करने की असाधारण योग्यता श्रीगुरुजी के अन्दर थी।

ये दृष्टिकोण विशिष्ट महत्व रखते हैं। ये मात्र दार्शनिक अभिलेख नहीं। श्रीगुरुजी केवल बौद्धिक दर्शनशास्त्री नहीं थे। उनका हिन्दू दर्शन के गूढ़ मर्मों पर असंदिग्ध अधिकार था किन्तु जमीन से जुड़े व्यावहारिक

नेता के रूप में सम्पूर्ण देश में चलने वाली बहुआयामी गतिविधियों के मार्गदर्शक के रूप में श्री गुरुजी ने दैनिक जीवन में अपने दार्शनिक ज्ञान को अनुभव और प्रयोगों की कसौटी पर कसा था। उन्हें देश की परिस्थिति एवं उनकी ज्वलन्त समस्याओं का सदैव ज्ञान था।

उनके विचारों, जिनकी जड़ें हिन्दू आध्यात्मिक परम्पराओं से जुड़ी हैं, का अत्यन्त व्यावहारिक महत्व है। श्रीगुरुजी तात्कालिक परिस्थितियों की कठोर वास्तविकता और समस्याओं की जानकारी का कभी दम्भ नहीं रखे। यद्यपि हिन्दू समाज और संगठन की तात्कालिक समस्याओं का, उसके दूरगामी परिणामों को ध्यान में रखते हुए तथा राष्ट्रीय और आध्यात्मिक दृष्टिकोणों से मुँह न मोड़ते हुए, समाधान देने में वे कभी चुके नहीं। यहाँ तक कि उनके पास कभी मार्गदर्शन के लिए पहुँचे राजनीतिज्ञों को सलाह देते समय सिद्धान्तहीन समझौते के औचित्य को कभी उचित नहीं ठहराया। वे भारतीय परम्परा के ऋषि कल्प थे। वे उस ऋषि परम्परा के घटक थे जिसने हमारे अमोघ ज्ञान भण्डार की रखवाली किया है।

यह सब इसलिए संभव हो सका कि श्रीगुरुजी के कार्यकाल का यह, वह समय था, जिसे युग सन्धि कहा जा सकता है। वे अतीत की महान परम्पराओं से उतने ही जुड़े थे जितना कि भविष्य की महान संभावनाओं से। उनका जन्म ऐसे परिवार में हुआ था जिसने अपने आपको धार्मिक विश्वासों का कठोरता से पालन कर समृद्ध बनाया था। उनके माता-पिता द्वारा धार्मिक आचारों का कठोरता से पालन, आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति समझौता विहीन दृष्टिकोण एवं उनके अनुपालन श्रीगुरुजी पर अमिट छाप छोड़ गये थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे विश्व-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय, जहाँ का वातावरण मालवीय जी की जीवन्त उपस्थिति से स्पन्दित था, में उनकी शिक्षा ने उनके जीवन में ऐसा विशिष्ट मोड़ ला दिया, जो अन्यत्र दुर्लभ था। स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य और श्री विवेकानन्द के गुरुभाई के चुम्बकीय आध्यात्मिकता का दुर्लभ सम्पर्क के अवसर ने श्रीगुरुजी की अद्भुत नैसर्गिक आध्यात्मिक प्रवृत्ति के पूर्ण प्रस्फुटन में सहायता प्रदान की और इसके साथ ही डॉ. हेडगेवार, जो हिन्दू राष्ट्र के प्रति समर्पण की साक्षात प्रतिमूर्ति थे के आत्मीय संबंध ने गुरुजी के गुणों में सोने पे सुहागा का काम किया था। डॉ. हेडगेवार की सन्निधि ने गुरुजी में धीरे-धीरे बदलाव

के साथ उनके महत्वपूर्ण जीवन की सम्पूर्ण दिशा को ही बदल दिया। उनके व्यक्तित्व में स्वामी विवेकानन्द श्री अरविन्द तथा लोकमान्य तिलक, भारतीय स्वातंत्र्य समर के जनक, के जीवन एवं उनकी शिक्षाओं का अद्भुत मिलन हुआ है। अनंत सम्भावनाओं से भरा हुआ यह दुर्लभ संयोग था। जैसे-जैसे गुरुजी के जीवन के पहलू उजागर हुए, विश्व इस बात का साक्षी बना कि एक ही व्यक्तित्व में संगठक, सुधारक, दार्शनिक और प्रणेता समाहित है। श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी अपनी सहज अनुभूति से प्रेरित होकर श्रीगुरुजी का वर्णन महान संत के रूप में करते हैं।

निम्नलिखित पंक्तियों में गुरुजी की महिमा का गान करते हुए ठेंगड़ी जी के अन्दर सच्चे कवि-प्रेरणा का परिचय प्राप्त होता है-

ओ शक्तिशाली प्रभो!

तुम्हारी ही धुन पर सागर करें नर्त्तन,

अचल बने सचल,

तुम्हारे ही इंगित पर,

साम्राज्यों का होता उत्थान और पतन। (पृष्ठ-५, महान संत)

२. जीवनोद्देश्य-

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख के नाते राष्ट्र पुनर्जागरण का महान उद्देश्य उनकी नियति ने उन्हें सौंपा था। इसके लिए सनातन धर्म के मूलतत्त्वों, अभ्यासों, विचारों एवं उद्देश्यों की पुनर्व्याख्या, नये युग धर्म के अनुसार आवश्यक थी, जो आधुनिक पीढ़ी के लिए बोधगम्य और व्यावहारिक हो। वस्तुतः, यह सब उभरते हुए वैश्विक परिदृश्य के संदर्भ में होना था। कोई भी देश, भारत जैसा महत्वपूर्ण देश तो और भी नहीं, अलग-थलग रहकर जीवित नहीं रह सकता। जिस तरह भारत ने अपना रूपाकर प्राप्त किया है, विश्व संरचना में उसकी महत्वपूर्ण प्रासंगिकता है। केवल श्री गुरुजी ही इसे भलीभांति जानते थे। हालांकि राष्ट्र-पुनर्जागरण एवं पुनर्निर्माण उनकी प्राथमिकता थी, फिर भी वे यह भी जानते थे कि भारत को वैश्विक भूमिका निभानी है। उस समय वैश्विक परिदृश्य जिस रूप में उभर कर सामने आया था, वह महान त्रासद था। ऐसा लगता था, विश्व के सामने कोई विकल्प नहीं बचा है। विश्व दो परस्पर विरोधी पद्धतियों

एवं विचारों की गिरफ्त में आ चुका था-पूँजीवाद और साम्यवाद, कभी न समाप्त होने वाले युद्ध में लिप्त दोनों का यह दावा कि विश्व उद्धारक दर्शन और मानवता के उत्थान के नमूना के हम असली संरक्षक हैं।

अनेक लोगों ने इस झूठे विश्वास को पाल रखा था कि दुनिया की पीड़ा को शमित करने या विश्व की दुविधा को समाप्त करने की सामर्थ्य हिन्दू सुधारवादी आन्दोलन में नहीं है। इसके लिए श्रीगुरुजी के विचार संकुचित हिन्दू फिरकापरस्ती पर अवलंबित है जबकि, परिस्थिति की मांग वैश्विक दृष्टिकोण से युक्त विकल्प की थी, जो सम्पूर्ण मानवता के भविष्यत को आशा और प्रसन्नता दे सके।

श्रीगुरुजी इस बात की जोरदार शब्दों में घोषणा करते थे कि साम्यवाद और पूँजीवाद के बहुत पहले से भारत में हमारे पूर्वजों की चिन्तन परिधि में सम्पूर्ण विश्व और उसकी सर्वांगीण कल्याणकारी-भावना थी। "सर्वे भवन्तु सुखिनः" का सूत्र उनके होठों की प्रार्थना बन चुका था। सम्पूर्ण विश्व सुखी हो। पश्चिम का दर्शन प्रतिस्पर्धा और द्वन्द्व के सिद्धान्तों पर आधारित, केवल शक्ति सम्पन्नों की जीवन की कल्पना करने वाला है। जबकि हिन्दू प्रतिमान पूरे विश्व को एक परिवार के रूप में देखता है। पश्चिम का सबसे ऊँचा दर्शन अधिसंख्य लोगों की भलाई की आश्वस्ती तक सीमित है जबकि, भारत चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह कितना ही लघु और महत्वहीन हो, जीवन की योजनाओं में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए। गुरुजी के अनुसार पश्चिम के एक दूसरे से भिन्न विचारों के पास जीवन पद्धति को देने हेतु कुछ भी नहीं है। जबकि हिन्दू दर्शन में केवल मानवता ही नहीं तो प्राणी मात्र को सुरक्षित स्थान प्राप्त है। पूँजीवाद हो या साम्यवाद दोनों का यह जन्मजात दर्शन है। दोनों का चिन्तन विभेदकारी है न कि एकात्म। क्योंकि दोनों विशुद्ध भौतिकवादी सोचो पर आधारित हैं। न ही पूँजीवाद और न तो पूँजीवाद की प्रतिक्रिया में पैदा हुआ साम्यवाद, प्रमुखतः भौतिकवाद पर आधारित होने के कारण, स्थायी और शांतिपूर्ण समाधान देने में सक्षम हो सके। आध्यात्मिकता पर आधारित केवल हिन्दू दर्शन ही सही विकल्प प्रस्तुत कर सकता है। आध्यात्मिकता विभक्त नहीं करती। यह मानवीय आवश्यकताओं तथा भौतिक जरूरतों को अस्वीकार नहीं करती। यह केवल समग्रता में चीजों का मूल्यांकन करती हैं। यह एक नये विचार एवं जीवन दृष्टि की प्रदाता है, जो आध्यात्मिक संचेतना और भौतिक कल्याण

को समाहित करती चलती है। भौतिकवाद मानव के पूर्ण विकास की आश्वस्ती नहीं देता है। वास्तव में यह तो आध्यात्मिक आयामों को नष्ट कर मानव को बौना ही बनाता है। भौतिकवादी के लिए चाहे वह पूँजीवादी हो या साम्यवादी मनुष्य तो प्रमुखतः आत्मा या आत्मा-रहित शरीर मात्र है। जबकि आध्यात्मिकता मानव मात्र को आत्मा या उस दिव्य प्रकाश के रूप में देखती है। यह दोनों को एक साथ लेते हुए पूर्ण या एकात्म मानव की कल्पना करती है, श्रीगुरुजी उसे ही पूर्ण मानव कहते हैं। श्रीगुरुजी द्वारा परिभाषित यह पूर्ण मानव की अवधारणा ही पं० दीनदयाल उपाध्याय द्वारा विस्तृत रूप में प्रतिपादित एकात्म मानववाद दर्शन की आधारशिला है। वास्तव में 'एकात्म मानववाद' सनातन धर्म पर आधारित हिन्दू सामाजिक दर्शन ही है जो वर्तमान युग की परिस्थितियों के अनुसार एक दूसरा विकल्प ही नहीं देता और न ही तीसरी राह ही प्रस्तुत करता है, बल्कि उससे भी आगे मानवता के लिए, जो उन दिनों पूँजीवाद और साम्यवाद के दो पाटों में पीस रही थी, वास्तविक और सच्ची राह प्रस्तुत करता है।

३. मात्र भौतिकवाद नहीं-

श्रीगुरुजी का स्पष्ट मत था कि न तो साम्यवाद न ही पूँजीवाद विश्व को एक सूत्र में आबद्ध कर सकता है। उन्होंने जो कारण दिये हैं वे बुनियादी हैं। भौतिकवादी दर्शन, जो मानव को बुनियादी तौर से शरीर केन्द्रित जानवर ही मानता है और भौतिक इच्छाओं की पूर्ति को परम आवश्यक मानता है, तादात्म्य और एकता की जगह स्पर्धा एवं द्वंद्व को बढ़ाने वाला है। कारण स्पष्ट है। भौतिकवादी धरातल पर केवल भेद और अनेकता ही अवस्थित है। वे विखण्डन और अलगाव की भावना को पुष्ट करते हैं। क्योंकि, वे लोग जो भौतिक वास्तिकताओं के स्तर पर ही देखते हैं उनके लिए एकता और एकात्मता जैसी कोई चीज नहीं होती। सहयोग जैसे शब्द भौतिकवादियों की नजर में अर्थवत्ता नहीं रखते, यह तो जब हम अनेकता के नीचे प्रवाहित सूक्ष्म एकता के सूत्र का दर्शन करते हैं तब महसूस करते हैं कि वही एकता का सूत्र सम्पूर्ण अस्तित्व को एकात्मता के भाव से जोड़ता है।

श्रीगुरुजी ने कहा है-"भौतिकवादी दृष्टिकोण से हम सबका स्वतंत्र अस्तित्व है, प्रत्येक एक दूसरे से विशिष्ट और अलग, परस्पर प्रेम और

लगाव के बन्धन से शून्य। ऐसे लोगों में आन्तरिक अनुशासन, जो मानवता के हित में उनके स्वार्थ प्रेरित आपाधापी को नियंत्रित कर सके, का अभाव होता है।"

अंततः, विश्व कल्याण के लिए पैदा होने वाली कोई भी व्यवस्था उस हद तक ही फलदायी होती है जहाँ तक उसके पीछे का अवस्थित मनुष्य मानवता के कल्याण की धुन पर अपने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय चरित्र में परिष्कार लाता है। इस उच्च आकांक्षा के बिना कोई भी योजना भले ही उसका उद्देश्य अच्छा क्यों न हो, सत्ता से मदहोश राष्ट्र की अतिरंजना के लिए एक मोहक मुखौटा ही प्रदान करता है। इतिहास का पूर्ववर्ती निर्णय वर्तमान में भी समीचीन है। इसीलिए हमारा प्राचीन हिन्दू दर्शन भौतिकता से कहीं ऊपर के उपादानों पर दृष्टि निक्षेप करता है। हमारा दर्शन मनुष्य की आत्मा के रहस्य की गहराई में झाँकता है, जो भौतिक विज्ञान की पहुँच से परे है और उस शास्वत सत्य, जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है, महान सामान्य सिद्धान्त के रूप में सम्पूर्ण चराचर जगत में उपस्थित है, चाहे हम उसे कोई भी संज्ञा दे–आत्मा, ईश्वर, सत्य, वास्तविकता या शून्य, की खोज करता है। कभी–कभी इस सर्वव्यापी अस्तित्व की अनुभूति दूसरे के सुख हेतु हमें त्याग की प्रेरणा देती है। "मेरे अन्दर अवस्थित मेरी आत्मा तथा दूसरे में अवस्थित आत्मा दोनों एक हैं" की अनुभूति अपनी सृष्टि के अन्य प्राणियों के सुख दुःख में वैसी ही प्रतिक्रिया व्यक्त करने की प्रेरणा देती है, जैसी की प्रतिक्रिया हमारे स्वयं के सुख–दुख में पैदा होती है। तादात्म्य की इस सच्ची अनुभूति का जन्म आन्तरिक अस्तित्व के अन्तर–संबंधों से हुआ है, जो मानवीय एकता और भ्रातृत्व की हमारी प्राकृतिक आकांक्षा के पीछे काम करने वाली मुख्य प्रेरक शक्ति है।

अतः यह स्पष्ट है कि वैश्विक एकता और मानवीय कल्याण तभी वास्तविक रूप ग्रहण कर सकते हैं जब मानवता उस सामान्य आन्तरिक बंधन को पहचान ले, जो भौतिकवाद से उत्पन्न घृणा और लालच को शांत कर सकता है, मानवीय मस्तिष्क के क्षितिज को विस्तार देकर मानवता के कल्याण के लिए व्यक्तिगत और राष्ट्रीय आकांक्षाओं में तादात्म्य स्थापित कर सकता है।

श्रीगुरुजी का यह सुविचारित मत था कि केवल भारतीय पद्धति ही सामाजिक विकास से बिना समझौता किये व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सुरक्षा

देती है। पश्चिम दो पद्धतियों पर निर्भर है-लोकतंत्र और साम्यवाद। प्रजातंत्र, जैसा कि हम देख रहे है स्वार्थ को बढ़ाया है और मनुष्य को मनुष्य के विरुद्ध खड़ा कर दिया है। मनुष्य की शांति समाप्त हो गयी है। आध्यात्मिकता के उत्थान की कोई गुँजाइश नहीं बची है। चुंनावों के द्यौरान लोगों द्वारा स्व-प्रशंसा और पर-निंदा की भावना ने आध्यात्मिकता को मार डाला है।

दूसरी ओर साम्यवाद ने मनुष्य के मस्तिष्क को ठप्प कर दिया है, जिसके कारण मनुष्य की व्यक्तिगत पहचान ही नष्ट हो चुकी है। किन्तु मनुष्य जानवर नहीं है जो मात्र भोजन और प्रजनन से सन्तुष्ट हो सके। उसके पास एक उच्च्व आकांक्षा है, जो इन सबों से ऊपर है, जिसकी पूर्ति केवल भौतिक वस्तुओं से नहीं हो सकती।

हमारी पद्धति में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक एकता दोनों सुरक्षित हैं। व्यक्ति आर्थिक बंधन की जंजीरों से मुक्त है। क्योंकि जन्म से ही उसका व्यवसाय उसे सुरक्षा प्रदान करता है। यहाँ तक कि पश्चिम के विचारक भी इसी दिशा में सोचना प्रारम्भ कर दिये है। यह पद्धति सांसारिक आवश्यकताओं की चिन्ता से मुक्त कर मनुष्य को देवत्व की ओर उत्थान की स्पष्ट राह दिखाती है। यही कारण था कि इस देश में उच्चकोटि के सन्त सभी जातियों में पैदा हुए। आध्यात्मिक आधार पर अवस्थित यह अद्भुत लोकतंत्र है। इस धरातल पर सभी बराबर हैं।

४. हिन्दू ढाँचा-

श्रीगुरुजी के पास सभी समस्याओं का समाधान था। यद्यपि उनका जीवन हिन्दू समाज के संगठन के महान कार्य हेतु समर्पित था, हर वर्ग के लोग उनके पास अपनी व्यक्तिगत समस्याओं से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तक का समाधान प्राप्त करने के लिए आया करते थे। श्रीगुरुजी का जीवन-दर्शन सनातन धर्म के ठोस वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण उनकी दृष्टि और विचार साफ एवं स्पष्ट थे। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं हैं कि उनके विचार पुरातन काल में घोषित सिद्धान्तों के ही अनुकूल थे। सेमिटिक पंथों के विपरीत हिन्दू धर्म सदैव से लचीला और सामंजस्य स्थापित करने वाला रहा है। सनातन धर्म मौलिक और शाश्वत हैं। इसके साथ ही हमारे संतों ने समय के अनन्त प्रवाह के कारण होने वाले अवश्यम्भावी परिवर्तन का भी ध्यान रखा है।

अतः सनातन धर्म के सिद्धान्त की अर्थभीरुता और कठोरता से लागू करने की जगह बदलती परिस्थितियों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर व्यवहार में लाना था। श्रीगुरुजी इस बात को समझते थे और उसके अनुरूप मार्गदर्शन भी किये। समाज निरन्तर प्रवाहमान (परिवर्तनशील) है। कोई भी सामाजिक नियम इस परिवर्तन से अप्रभावित नहीं रह सकता। नेतृत्व की बुद्धिमता इसी में है कि वे उचित मानदण्डों की स्थापना बिना मौलिक सिद्धान्तों के हनन के करे। व्यक्तिगत आकांक्षाओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है। गुरुजी का मानना था कि हिन्दू-समाज-दर्शन का उद्‌देश्य पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण है-पूर्णमानव-और तब इसे और ऊँचा ले जाने का प्रयत्न यानि नर से नारायण तक उत्थान। यह तभी उपलब्ध हो सकता है, जब हमारे सम्पूर्ण सामाजिक नियम इसके अनुरूप वातावरण बनाने वाले हों। मानव मनोविज्ञान के गहरे विश्लेषण से गुरुजी उसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे जहाँ हमारे प्राचीन ऋषि और धर्मग्रन्थ पहुँचे है। मनुष्य सुख की खोज में है, लेकिन, सुख के वास्तविक उत्स को वह नहीं जानता। अतः वह सुख की खोज के लिए बाहर की दुनियाँ की यात्रा पर निकल जाता है। इस बात से प्रभावित होकर कि अनेक साधनों के संग्रह से उसे उसका आकाक्षित सुख प्राप्त हो सकता है। लेकिन असंख्य प्रयत्न और गलतियों के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सुख तो मन की स्थिति पर निर्भर है और इसकी खोज तो मनुष्य के अन्दर ही होनी चाहिए। बाहरी वस्तुओं से उसे जो क्षणिक सुख प्राप्त होता है वह क्षणिक तो है ही, साथ ही वह प्रतिक्रिया और घृणा भी पैदा करता है। परम आनन्द तो मनुष्य की स्वयं की आत्मा में ही अवस्थित है। इस अनुभूति के साथ एक दूसरी अनुभूति भी तत्काल उत्पन्न होती है कि वही एक 'आत्मा' प्रत्येक मनुष्य में है। अतः वह सबकी एकता के महत्व का अनुभव करता है। संकुचित "मैं" विस्तृत होकर सबको अपने में समाहित कर लेता है। अहं विस्तारित होकर जब सर्व के साथ तादात्म्य स्थापित करता है तो इसे ही हम मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। यह प्रत्येक मनुष्य का अन्तिम उद्‌देश्य है। ऐसी ही मुक्त आत्मा 'पूर्ण मानव' की संज्ञा से अभिहित होती है।

लेकिन तब यह मुक्ति दूसरे लोक या दूसरे जन्म में उपलब्ध नहीं होती। इसे तो यहीं और अभी प्राप्त करना है, यह एकांतवास से भी नहीं प्राप्त होती है। इसे तो अपने समाज, जिसमें हमने जन्म लिया और

परवरिश पाया, में ही प्राप्त किया जा सकता है। मुक्ति समाज से नहीं अपितु अपने अहंकार और स्वार्थ की कारा से मुक्ति। ऐसे ही मुक्त मानव समाज के आभूषण, पृथ्वी के लवण, सच्चे नेता और पथ निर्माता होते हैं। गुरुजी का विश्वास था कि ऐसे पूर्ण मनुष्य संभव हैं, यदि उनके इर्द-गिर्द का समाज इसके लिए अनुकूल वातावरण तैयार करे। हमारा प्राचीन हिन्दू समाज वास्तव में इसी अन्तिम उद्देश्य के आधार पर निर्मित हुआ था। व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष था। किन्तु कोई भी बिना सहयोग के एक ही बार में इस मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। अपने लक्ष्य की ओर यात्रा के दौरान मनुष्य के व्यक्तित्व का गठन इस रूप में होता है कि, धन की उपलब्धि और सुख का आनन्द व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक तत्व हो जाते हैं और केवल तब कोई व्यक्ति अन्तिम चरण के लिए योग्य माना जा सकता है। अतः समाज को ऐसी व्यवस्था करनी होती है जिससे अर्थोत्पादन और आनन्द का अवसर उपलब्ध हो सके। इसे हम अर्थ और काम की संज्ञा देते हैं। लेकिन निसर्ग की एक सीमा के कारण यह स्पष्ट है, आनन्द और अर्थ असीम नहीं हो सकते। अतः हमारे पूर्वजों ने ऐसे नियम और पद्धति पर बल दिया जिससे आनन्द और अर्थ का संचार इस रूप में हो कि कोई इससे वंचित न रह सके। इस नियम और पद्धति को हमने धर्म कहा। केवल धर्माधिष्ठित समाज प्रत्येक मनुष्य के लिए कानूनसम्मत, मर्यादायुक्त जीवनानंद और अर्थोत्पादन हेतु उचित अवसर प्रदान करता है, जिससे मनुष्य इन सबके पार जाकर मोक्ष के लिए योग्यता प्राप्त कर सके। ऐसा समाज ही परिपूर्ण समाज कहलाता है। हमारे जीवन की यह योजना हमारे देश में प्रारम्भ से ही विकसित थी। इसे हमने चार पुरुषार्थ के रूप में जाना। गुरुजी का ऐसा मानना था कि आदर्श समाज व्यवस्था के लिए चारो पुरुषार्थ आधारशिला हैं। यह साम्प्रदायिक या संकीर्ण नहीं है। वास्तव में, यह वैश्विक है।

इसके साथ ही चार स्तरों पर वर्ण विभाजन तथा आश्रम के रूप में जीवन के चार चरण हिन्दू समाज के गठन के अंग थे। इस व्यवस्था ने बहुत लम्बी अवधि तक समाज को स्थायित्व प्रदान किया था। लेकिन अब समय बदल गया है। श्रीगुरुजी का दृष्टिकोण बहुत ही यथार्थवादी था, वे यह जानते थे कि वर्तमान परिस्थिति में आश्रम और वर्ण व्यवस्था व्यावहारिक नहीं रह गया है। अतः श्री गुरुजी स्पष्ट तौर से कहते थे

कि–"जैसे पुरानी पत्तियाँ वृक्ष से गिर कर नये के लिए स्थान प्रदान करती हैं, वैसे ही समाज जीवन का कभी आवश्यक अंग रही वर्ण व्यवस्था को समाप्त कर नयी व्यवस्था लागू करनी चाहिए। समाज के विकास की यह नैसर्गिक प्रक्रिया है।"

उसी तरह आश्रम व्यवस्था को भी व्यक्तिगत और समाज के हित के लिए समुचित सुधार के साथ लागू करना चाहिए। वह असीम सामाजिक पूँजी, जो वर्तमान में योजना रहित अव्यवस्थित परिस्थिति का शिकार होकर नष्ट हो रही हैं, व्यक्ति को उसकी ऊर्जा के उपयोग का अवसर प्रदान करेंगी। यह उत्साहवर्धक है कि वर्णव्यवस्था की अवधारणा समाज की कल्पना का धीरे-धीरे हिस्सा बन रही है।

श्रीगुरुजी का सुनिश्चित मत था कि सनातन धर्म पर अवस्थित हिन्दू समाज-व्यवस्था समुचित सुधार के साथ वर्तमान संदर्भ में अत्यन्त प्रासंगिक है। इसके पास पूँजीवाद और साम्यवाद की कमजोरियाँ नहीं हैं, साथ ही इसमें वे सारे हित सान्निहित हैं, जिनका दावा साम्यवादी और पूँजीवादी करते हैं। हिन्दू समाज व्यवस्था व्यक्तिगत प्रेरणा और पहल को सामाजिक अनुशासन से निबद्ध करती है। यह साम्यवाद की तरह न तो व्यक्ति को जड़ बनाती है और न ही समाज को व्यक्तिगत सनक की दया पर छोड़ती है। श्रीगुरुजी का विश्वास था कि ऐसी समाज-व्यवस्था यदि भारत में स्थापित होती है तो दुनियाँ के अन्य देशों के लिए भी प्रेरणा का स्रोत बन सकेगी। उन मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित, श्रीगुरुजी इस ओर संकेत करते हुए हमें बताते हैं, राजनीतिक और आर्थिक पद्धति को अपने राष्ट्र के व्यक्तित्व एवं इसकी महत्वाकांक्षा को पूर्ण स्वतंत्र अभिव्यक्ति देने हेतु हमें विकसित करना चाहिए।

५. ऋषि परम्परा के वाहक, हिन्दू राष्ट्र के मंत्रद्रष्टा–

ऋषि परम्परा को आत्मसात कर, इसे आगे तक ले चलने वाले श्रीगुरुजी भारत माता को दिव्य स्वरूप में देखते थे। इतिहास के उषाकाल के समय से ही भारत में यह विशेष परम्परा रही है। वैदिक सूक्तों की ऋचाओं ने भी भारतमाता की महिमा का गान किया है। यह पवित्र परम्परा युगों-युगों से अबाध चलती आ रही है। बंकिमचन्द्र के वन्देमातरम् में लक्ष्मी, दुर्गा और सरस्वती के रूप में भारतमाता का वर्णन प्राचीनकाल से चली आ रही भावना का नूतन संस्करण है। गुरुजी इस

भावना को पूर्णतः आत्मसात कर लिये थे। हमारी नदियों के जल की प्रत्येक छोटी बूंद, सिकता का एक छोटा कण, प्रत्येक पर्वत और झील वस्तुतः सारी चीजें जो भारतमाता से जुड़ी हुई है और हमें उसकी याद दिलाती है, श्रीगुरुजी के रक्त मांस में पूर्णतः निमज्जित होकर उनसे तादात्म्य स्थापित कर ली थीं। भारतमाता के साथ वे तदाकार हो गए थे। बोली जाने वाली अनेक भाषाएं, पूजा की अनेक पद्धतियाँ, भिन्न-भिन्न वेष-भूषा और खान-पान के अनेक प्रकार जिनसे उनका साक्षात्कार हुआ, ये सब चीजें भारत की समृद्धि और इसकी आत्मा के सौन्दर्य का बहुरंगी प्रतीक हैं। इतिहास चाहे वह दुःख का हो या शर्म का, सफलता या आनन्द का, उनके मस्तिष्क में उठने वाले विचार अपने देशवासियों के मस्तिष्क में उठने वाले विचारों की प्रतिध्वनि ही थी। हमारी विविधता ही मिलकर हिन्दू राष्ट्रवाद का गठन करती हैं जो सनातन धर्म के ही समतुल्य हैं। सनातन धर्म के आधार पर चला अभियान शाश्वत राष्ट्रवाद, जो श्रीगुरुजी का जन्मजात गुण और उनका जीवनोद्देश्य था, जिसके संबर्धन हेतु उन्होंने प्रचण्ड परिश्रम किया, की सुरक्षा, संरक्षा और संबर्धन का ही प्रयत्न था।

हिन्दू राष्ट्रवाद की अमर्त्य शक्ति उनके हृदय को सर्वाधिक प्रिय थी, क्योंकि वे जानते थे कि इसी से राष्ट्र की आत्मा का गठन होता है। अर्थशास्त्र और राजनीति, राज्य और उसका शासन, संविधान और उसका प्रशासन, राज्य के सारे अंग उपांग, एक तरह से इसी महान आदर्श के अंग हैं। ऐसा नहीं है कि ये तत्व महत्वहीन हैं प्रत्येक की भूमिका तभी तक महत्वपूर्ण है जब तक वह राष्ट्र की जीवन्तता और उसके स्वास्थ्य के उद्देश्यों की पूर्ति करता है। श्रीगुरुजी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य को राष्ट्रीय अस्मिता को वृद्धिंगत करने वाले साधन के रूप में देखते थे। स्वयंसेवकों द्वारा प्रारम्भ की गई अन्य गतिविधियों का एकमात्र उद्देश्य राष्ट्र कार्य के महति उद्देश्य का आलिंगन ही था।

अपने राष्ट्र के इतिहास के गहन और अन्तरंग अध्ययन से, अनुभव और बौद्धिक दोनों स्रोतो द्वारा श्रीगुरुजी ने अनुभव किया कि भारत की वास्तविक शक्ति इसकी आध्यात्मिकता और धर्म में सन्निहित है। हिन्दू समाज इन्हीं तत्वों पर निर्भर रहकर इतिहास की विसंगतियों को पराभूत कर सकता है। भारत के इतिहास की रचना, उसके सामाजिक,

आर्थिक उन्नयन का आकार तथा उसके मूल्यों का [illegible] धर्म और आध्यात्मिकता द्वारा ही रूपाकार प्राप्त किये हैं। यही श्रद्धा उसे सर्वांगीण उन्नति और सफलता कें अति उच्च शिखर पर चढ़ने में समर्थ बनाती है। यहां तक कि अपने उत्थान और पतन की अवधि में भी इसकी यही आन्तरिक जीवनीशक्ति का स्रोत भारत को जीवन देने तथा विलुप्त महानता को पुनः प्राप्त करने में सहायक बनी। श्रीगुरुजी का ऐसा मानना था कि यह इस कारण संभव हो सका कि भारत में साधुओं और सन्तों की एक अखण्ड श्रृंखला थी, जिन्हें हम अपनी परम्परा में ऋषि के नाम से जानते हैं। ऋषि संज्ञा से अभिहीत लोग ज्ञान की प्राप्ति तथा उसके प्रचार प्रसार हेतु अत्यन्त समर्पित थे। वे हमारे प्रतिमानों मूल्यों और सामाजिक तथा सामूहिक जीवन की गुणवत्ता के सक्षम संरक्षक थे। जिन्होंने सत्ता और सम्पत्ति की आकांक्षा नहीं की। उन्होंने बहुत ही सच्चाई और सावधानीपूर्वक अपने आपको इन दोनों से दूर रखा। इसके कारण उनके नैतिक अधिकारों में वृद्धि के साथ समाज पर उनकी पकड़ मजबूत हुई। यहाँ तक कि नृपति एवं सम्राट भी उन्हें सम्मान देते थे और उनका मार्गदर्शन न केवल आध्यात्मिक विषयों बल्कि सांसारिक बातों में भी प्राप्त करते थे। इसका कारण था प्रत्येक चीजों का धर्म द्वारा संचालित होना। उनकी स्वार्थहीनता के कारण उन पर लोगों का विश्वास था और सही समय पर सही मार्गदर्शन प्राप्त करते थे, श्रीगुरुजी अपने भाषणों में बहुधा इसका जिक्र करते थे-कैसे, राम और कृष्ण के समय से ही अपने देश में यह परम्परा स्थापित हो चुकी थी। बाद में यह विशिष्ट परम्परा बुद्ध, शंकर विद्यारण्य तथा समर्थ रामदास द्वारा आगे प्रवाहित हुई। वर्तमान युग में भी स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द जैसे सच्चे अर्थो में आधुनिक ऋषियों ने राष्ट्र का सही मार्गदर्शन किया।

जब कभी भी समाज में धर्म का आन्तरिक क्षरण हुआ तो ऋषियों ने अग्रसर होकर उसकी पुनर्व्याख्या के साथ ही सटीक मूल्यों, संयुक्त पद्धति तथा व्यवहार के मानक भी तय किये जिससे हमारी संस्कृति की जड़ों से हमारा जीवन्त सम्पर्क बना रहे।

जब कभी भी समाज परकीय आक्रमणों का सामना किया या अस्वस्थ विदेशी संस्कृति के प्रभाव में आया, तो पुनः ऋषियों ने धर्म और आध्यात्मिकता से लगाव बनाये रखने के लिए हर संभव आवश्यक कदम

उठाये। ऋषि परम्परा प्राचीन भारत का मेरूदण्ड रही है। आज भी इस परम्परा को जीवित रखना है।

संघ कार्य को भी श्रीगुरुजी इसी दृष्टि से देखते थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मुख्य दायित्व धर्माधिष्ठित हिन्दु समाज के लिए संगठित शक्ति का निर्माण करना है। वास्तव में, यह एक दिव्य कार्य है। यह राष्ट्र जीवन के सभी पहलूओं को निस्पृह और असंलिप्त रहकर अनुप्राणित और बलशाली बनायेगा। इसकी प्रेरणा और मार्गदर्शन की शक्ति नैतिक है। श्रीगुरुजी ऐसा मानते हैं कि संघ को वही भूमिका निभानी है, जो भूमिका ऋषि परम्परा ने हमारे समाज में निभाई, जिससे कि राष्ट्र, धर्म के पथ से विचलित न हो जाय इसके लिए संघ को दलगत राजनीति और सत्ता की राजनीति, भ्रष्ट करने वाले धन के प्रभाव तथा नाम और यश की चाह से ऊपर उठना होगा। समाज के सदस्य और इस देश के नागरिक के नाते स्वयंसेवक का यह कर्तव्य और अधिकार दोनों है कि वह समाज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सक्रिय हो और अपनी भूमिका सुनिश्चित करे। किन्तु, संगठन के नाते संघ राष्ट्रहितों के लिए स्वयंसेवक को प्रेरित और नैतिक सामर्थ्य द्वारा उनका केवल मार्गदर्शन करेगा। यह बहुत ही नाजुक और दुरूह कार्य है जिसे अत्यन्त सावधानी और बुद्धिमत्ता से करना होता है। इसमें खतरे बहुत हैं, जिनसे बचना है। चाहे हम इसे किसी भी नाम से पुकारे, अकेली यह अनुपम ऋषि परम्परा ही राष्ट्रीय चिति के प्रति विश्वसनीय और राष्ट्र के जीवनोद्देश्य को, किसी भी परिस्थिति में आगे बढ़ाने में सक्षम है।

६. एक मंच धर्मोचार्यों के लिए–

श्रीगुरुजी की यह अन्तर्दृष्टि कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय से जुड़े सन्यासी और धर्मगुरुओं को, जिनकी समाज जीवन में महतिभूमिका है, संघ कार्य से जोड़ना चाहिए। हिन्दू समाज में सन्यासियों को सर्वत्र और सभी स्तर पर अत्युच्च सम्मान प्राप्त है। लोगों के मन पर उनका असाधारण प्रभाव है। उनकी वाणी और जीवन मानव चरित्र को परिष्कृत करने के साथ ही समाज के मूल्यों और उसके कर्तव्य का निर्धारण भी करते हैं। सभी पंथों के अपने प्रमुख हैं जो सन्यासी या धर्मगुरु होते हैं, जिन्हें उनके अनुयायी श्रद्धेय और प्रणम्य मानते हैं। बहुत हद तक हिन्दू समाज का गठन उनके द्वारा हुआ है। सम्मानित सन्यासियों के अधीन

असंख्य पांथिक समुदाय हैं। श्रीगुरुजी हिन्दू समाज की धमनियों की गति पहचानते थे और यह महसूस करते थे कि यदि बड़ी संख्या में अवस्थित इन सम्मानित सन्यासियों को विश्वास में लिया जाय और उन्हें भी हिन्दू समाज के संगठन की महत्ता का भान हो जाय, तो हिन्दू समाज प्रभावशाली रूप से संगठित हो सकता है। सामाजिक परिवर्तन और सुधार, प्रभावशाली ढंग से लाये जा सकते हैं यदि धार्मिक प्रमुख अपनी गतिविधियों का मुँह इस दिशा में मोड़ दें। किसी भी अर्थपूर्ण भलेके लिए परिवर्तन को कानून की शक्ति द्वारा बलपूर्वक जनता के गले में नहीं उतारा जा सकता। भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने का दायित्व सदैव से धर्माचार्यों का ही रहा है। यदि धर्माचार्य नेतृत्व सम्हाल लें तो सामाजिक कुरीतियाँ समाप्त की जा सकती हैं, नूतन प्रथाओं का प्रचलन प्रारम्भ हो सकता है, साथ ही राष्ट्रीय एकात्मता बहुत ही आसानी और सहजता से स्थापित की जा सकती है। श्रीगुरुजी ने देखा कि हिन्दू समाज की हालत बहुत नाजुक है। कालवाह्य रीति-रिवाज अभी भी प्रभावित हैं-अस्पृश्यता का अभिशाप अभी जिन्दा है। चहुओर गतिरोध है। लोगों का सामूहिक धर्मान्तरण हो रहा है। सेवाभाव की कमी है। संगठित प्रयत्न प्रारम्भ करने में कठिनाई है। सामाजिक चेतना के साथ आन्तरिक उत्साह में भी कमी है। इसके सिवा नई आध्यात्मिक मान्यताएँ पनप रहीं हैं और पुरानी मान्यताएँ नई आवश्यकताओं के साथ मेल बैठा पाने में अक्षम साबित हो रही हैं। यहां तक कि मठ-मन्दिर प्रमुखों का, अति प्राचीन मान्यताओं और विश्वासों के कारण, एक साथ आना असंभव हो रहा है। भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक प्रमुखों का समान उद्देश्य आज समय की मांग है। उन्हें एक मंच पर लाना भगीरथ कार्य है फिर भी हिन्दू समाज को शक्तिशाली बनाने का यह एकमात्र उपाय है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि-"सच्ची राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने के लिए बिखरी आध्यात्मिक शक्तियों को एक साथ लाना होगा।" श्रीगुरुजी ने इस असम्भव कार्य को संभव कर दिखाया। न केवल वे एक साथ एक मंच पर आये ही, बल्कि अस्पृश्यता, असमानता को दूर करने जैसे समान उद्देश्य की पूर्ति हेतु सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित कर इसके लिए काम करने हेतु दृढ़प्रतिज्ञ भी हुए। वास्तव में श्री गुरुजी ने विश्व हिन्दू परिषद के माध्यम से शताब्दियों पूर्व सम्प्रदायों द्वारा प्रचलित मान्यताओं को उनके प्रमुखों को एक मंच पर लाकर नये सन्दर्भ में पुर्नजीवन प्रदान किया,

श्रीगुरुजी ने उनके समक्ष सनातन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों, विश्वासों, रीति-रिवाजों, मान्यताओं को पुष्पित पल्लवित एवं सिंचित करने के लिए राष्ट्रीय सहमति निर्माण करने की आवश्यकता पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया। श्रीगुरुजी का राष्ट्र के लिए यह अनुपम अवदान था। जिसके लिए वे आने वाले समय में श्रद्धा से याद किये जाते रहेंगे।

७. हिन्दू समाज की समस्याएँ-

हिन्दू दर्शन का जीवन और उसके समस्याओं के प्रति चिन्तन का स्वरूप भले ही दार्शनिक हो, श्रीगुरुजी ने, तत्कालीन विश्व द्वारा झेली जा रही समस्याओं के प्रत्येक पहलू पर अपना विचार व्यक्त किया। वे संख्या में इतनी अधिक हैं कि इस छोटे कलेवर की पुस्तक में उनका संयोजन असंभव है। हम यहाँ पर उनमें से चुने हुए अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयों पर चर्चा करेंगे।

हिन्दू शब्द की, जिसे बहुत ही गलत रूप में प्रस्तुत किया गया है, श्री गुरुजी के अनुसार, अर्थच्छाया हिन्दू समाज हैं- यह शब्द हमारे शास्त्रों में उपलब्ध है। यह हिमालय के 'हि' और इन्दू सरोवर, जो हमारी सम्पूर्ण भारतमाता के आकार की व्याख्या करते है, संयोग से निर्मित है श्री गुरुजी बार्हस्पत्यशास्त्र के श्लोक का उदाहरण देते हैं-

हिमालयसमारभ्यम यावदइन्दु सरोवरम।
तम देव निर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते।।

यद्यपि आर्य शब्द प्राचीन और गौरवपूर्ण संज्ञा है, श्री गुरुजी इस पक्ष में कभी नहीं रहे कि इस शब्द का उपयोग, आर्यन-द्रविड़ीयन के कृत्रिम सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए किया जाय।

भारतीय, यद्धपि यह शब्द अत्यन्त प्राचीन और निर्विवाद है, फिर भी इसकी अर्थच्छाया थोड़ी भिन्न है और यह हिन्दू शब्द के समान या पर्याय के रूप में प्रयुक्त नहीं हो सकता।

हिन्दु राष्ट्र, श्रीगुरुजी के अनुसार मात्र पांथिक अवधारणा नहीं है। वे इसे निम्नलिखित सन्दर्भ में परिभाषित करते हैं-

हिन्दू राष्ट्र के विषय में गलत अवधारणा को प्रारम्भ में ही मुझे स्पष्ट करने दें। हिन्दू शब्द मात्र पंथ का द्योतक नहीं है।

यह 'जन' और उच्चतम जीवन मूल्यों का द्योतक है। इसलिये हम अपनी राष्ट्र की अवधारणा में कुछ मूलभूत बातों पर बल देते हैं- मातृभूमि और अपने सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति बेशर्त (शर्तहीन) समर्पण, अपने अत्यन्त प्राचीन इतिहास के प्रति गौरवबोध, अपने महान पूर्वजों के प्रति सम्मान और अन्त में समृद्धि और सुरक्षा का एक सामूहिक जीवन निर्माण करने का हम सब में संकल्प। ये सभी एक ही शीर्षक 'हिन्दू राष्ट्र' के अधीनस्थ हैं। व्यक्तिगत पूजा-पद्धति से हमारा कुछ लेना देना नहीं है, यह हमारे चिन्तन का विषय नहीं है।

जब उनसे पूछा गया कि क्या वे हिन्दू राज्य चाहते हैं ? श्रीगुरुजी बहुत ही सरल शब्दों में अपनी संकल्पना की व्याख्या किये हैं "हिन्दू राज्य की, पंथिक राज्य, जो सभी अन्य पंथों को नष्ट कर देगा, के रूप में बहुत ही गलत व्याख्या की गई है।

हमारी वर्तमान राज्य व्यवस्था एक तरह से हिन्दू-राज्य ही है। जब बहुसंख्य जनता हिन्दू है तो राज्य लोकतांत्रिक दृष्टि से हिन्दू है। यह पंथ निरपेक्ष राज्य भी है, जिसमें सभी गैर-हिन्दुओं को यहां रहने का समान अधिकार प्राप्त है। राज्य किसी को भी, सरकार में सम्मानजनक स्थान प्राप्त करने से रोकता नहीं है। हिन्दू राज्य या पंथ निरपेक्ष राज्य कहना अनावश्यक है।

बहुतेरे, जिन्हें विद्वान और उच्च शिक्षा विभूषित माना जाता है, हिन्दू समाज के अन्दर अवस्थित अनेक विश्वास, पंथ, जातियाँ, भाषा, व्यवहार और रीति-रिवाजों के आधार पर हिन्दु समाज की मूलभूत एकता के बारे में भ्रम का शिकार हो गये हैं। वे हिन्दू समाज को असमानता और परस्पर विरोधी तत्वों का समुच्चय मानते हैं। श्रीगुरुजी इससे असहमत हैं। वे कहते हैं "यह प्रश्न हमारे हिन्दू जीवन के सतही अवलोकन से पैदा हुआ है। एक वृक्ष, उदाहरण के लिए, टहनियों, पत्तों, फूलों और फलों के कारण ऊपर से देखने पर अनेक और विषम रूप में दिखता है। तना शाखाओं से भिन्न दिखता है, टहनियाँ पत्तों से भिन्न दिखती हैं, सभी मानो एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं। किन्तु हम जानते है कि यह बाहरी भिन्नता विविध रूप में केवल उसी वृक्ष की अभिव्यक्ति है। उसके सभी भागों में एक ही रस प्रवाहित होकर उन्हें पोषण प्रदान करता है। ठीक यही बात, हमारे हिन्दू समाज की विभिन्नता, जो हजारों वर्षों में विकसित हुई है के बारे में कही जा सकती है। वृक्ष में फूल और

पत्तियों के समान हमारे समाज में विद्यमान भिन्नता, मतभेद और

बिखराव का कारण नहीं है। इस प्रकार का नैसर्गिक विकास हमारे समाज जीवन की अद्भुत विशिष्टता रही है।

राष्ट्रों के मध्य विवादों के समाधान में युद्ध की भूमिका और समाज में हिंसा का स्थान के विषय में भी गुरुजी का विचार अत्यन्त स्पष्ट और निश्चित है। हिन्दु धर्म के अनुसार युद्ध अन्तिम उपाय है, प्रारम्भिक उत्तेजना के क्षणों में ही इसे हल्केपन से नहीं लेना चाहिए। इसका उपयोग शल्य चिकित्सक की छुरी की तरह होना चाहिए। शल्य चिकित्सक जब भी अपनी छुरी का उपयोग करता है तो उसका उद्देश्य रुग्ण अंग को शल्यक्रिया द्वारा बाहर निकाल कर रोगी को बचाना होता है, उसी तरह एक निश्चित असाधारण परिस्थिति में समाज की बिमारी को समाप्त करने के लिये आवश्यकता के अनुरूप शल्यक्रिया की तरह हिंसा का भी उपयोग हो सकता है। इससे आगे कुछ निश्चित शर्तें भी पूरी होनी चाहिए। जो भी व्यक्ति हिंसा का उपयोग करता है उसकी इसपर मजबूत पकड़ होनी चाहिए, उसे यह जानना चाहिए कि कब, कहाँ, किस हद तक और कहाँ तक इसका उपयोग होना चाहिए और उसे यह भी जानना चाहिए कि यदि कोई क्षति हो भी गई तो उसकी पूर्ति कैसे होगी।

श्रीगुरुजी, कुछ निश्चित बातों के प्रति, जिन्हें लोग हिन्दू धर्म के मूल के रूप में मानते हैं, एकदम रूढ़ीवादी नहीं थे। शाकाहार के प्रश्न पर श्रीगुरुजी का विचार था कि-"हमारे शास्त्रों के केन्द्रीय विचार के रूप में सम्पूर्ण विश्व के लिए सर्व समावेशी भाव रहा है अतः उसने भिन्न-भिन्न प्राणियों के लिये, उनके दृष्टिकोण और रूचि के अनुरूप नियम बनाये। वे सभी पर लागू होने वाला कोई एक सपाट नियम नहीं बनाये। गाय और गो-हत्या को श्रीगुरुजी अति विशिष्ट मुद्दा मानते थे। अतः इसे अन्य जानवरों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। यहाँ तक कि वेदों में भी गाय को अघन्या (अवध्य) कहा गया है।

श्रीगुरुजी का विचार था कि गो-हत्या हमारे देश में विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा हिन्दुओं के आत्मसम्मान के अवशेष को भी नष्ट करने के लिए प्रारम्भ किया गया। इस दासता के चिन्ह् को राष्ट्र सम्मान के हित में समाप्त करना चाहिए। इसके लिए अन्य कारण भी हैं कि क्यों गो-हत्या को समाप्त कर देना चाहिए। अनेकों आधार है जिनकी बिना

पर गो-हत्या बन्दी को आवश्यक और न्यायोचित कहा जा सकता है।

"आर्थिक दृष्टिकोण से भी गो हत्या यदि आत्मघाती नहीं तो बुरा सौदा जरूर है। श्रीगुरुजी ने अनुभव किया कि ये सभी बातें लोगों को बताई जानी चाहिए।" जो भी हो, मैं इसे दूसरे दृष्टिकोण से भी देखता हूँ। गो-हत्या इस देश में विदेशी प्रभुत्व के साथ प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों ने इसे प्रारम्भ किया और अंग्रेजों ने इसे चालू रखा। इसलिये यह हम पर बदनुमा धब्बा है, कलंक है। हमनें अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है-इसके साथ ही हमें अपने सारे कलंक मिटा देना चाहिए। अन्यथा हम अभी भी मानसिक दासता की पीड़ा झेलते रहेंगे। आज यह समाप्त होने की जगह कई गुना बढ़ गया है।

हिन्दुत्व की अनुपम विशिष्टता के सम्बन्ध में, जो अन्य पंथों में दुर्लभ है, श्रीगुरुजी निम्न बिन्दु उठाते हैं-

"एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति (सत्य एक ही है संत इसे भिन्न-भिन्न तरीके से व्याख्यायित करते हैं) का विचार हिन्दू धर्म का अद्वितीय विचार है। दूसरे जहां अन्य लोग सुख की चाह में बाहर की यात्रा पर निकल गये, हमारा दर्शन अभ्यन्तर की खोज पर केन्द्रित रहा है। इस आन्तरिक प्रसन्नता को ही हमने श्रेयश कहा है। प्रत्येक को श्रेयस की प्रतिभूति देने के लिये, सामाजिक व्यवस्था, यदि इसे सबके लिये अधिकतम प्रसन्नता प्राप्त करनी है, को सक्षम होना पड़ेगा। हमारी प्रेरणा का दार्शनिक आधार हमारी एकात्मभाव की अवधारणा और इसकी अनुभूति में अवस्थित है।

भगवद्गीता में कहा है- ईश्वराः सर्वभूतानाम उद्देशऽर्जुना तिष्ठति। सभी भूतो में (जीवितप्राणी) आत्मा के अस्तित्व की दृढ़तापूर्वक घोषणा अन्यत्र अप्राप्य है। देश में धार्मिक जोश से उत्पन्न महान आन्दोलनों में श्री गुरुजी सम्मिलित नहीं थे। उनका सुविचारित मत था कि "किसी को भी इसका निर्णय समाज पर इसके द्वारा छोड़े गये प्रभाव के आधार पर करना चाहिए। श्रीगुरुजी पूछा करते थे "क्या वे लोगों के मस्तिष्क में उदात्त संकल्प डालने में सक्षम हुए हैं, जिससे वे वर्तमान में अपने स्व-केन्द्रित जीवन से ऊपर उठ, चरित्र की महान देशनाओं, सेवा और त्याग के लिये जी सकें। मेरा अनुभव कहता है कि इसका उत्तर नाकारात्मक ही मिलेगा।

मात्र क्षणिक भावना के ज्वार से चरित्र नहीं गढ़े जाते, प्रायः भावना का तीव्र वेग स्नायु-तंत्र को नष्ट कर मनुष्य को पहले से कमजोर और नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट ही बनाता है। यह मदिरा व्यसनी मनुष्य की तरह है जो मदिरा के प्रभाव शमन के पश्चात् मंदबुद्धि की तरह पड़ा रहता है। वृक्ष की अच्छाई का निर्णय उसके पर्ण समूहों से नहीं बल्कि उसके फलों से होता है।

अखण्ड भारत के विषय में पूछे गये प्रश्न के उत्तर में श्रीगुरुजी ने स्वीकार किया था-''यह उनका सपना है ओर उनमें इसके लिए कोई खेद की भावना नहीं है''। आगे इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं-''हमारे राष्ट्र की समृद्धि और इसका सुख तभी मिट्टी में मिल गये जब हमने केवल ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या का ही विचार करना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार एक और दुर्भाग्य हमें ग्रस लिया जब हम केवल संकुचित व्यक्तिगत व पारिवारिक जीवन में अपने आपको लिप्त कर दिया। अतः दोनों अतियों-अतिव्याप्ति और अव्याप्ति-को छोड़कर हमें मध्य मार्ग अपनाना होगा और यह संतुलन हमें प्राप्त होता है जब हम दोनों अतियों के मध्य उस स्वर्णिम अभिप्राय को समझते हैं जो राष्ट्र के रूप में अवस्थित है।

८. सनातन धर्म बनाम अन्य पंथ-

श्रीगुरुजी का व्यक्तित्व मूलतः आध्यात्मिक था। स्वाभाविक तौर से किसी भी चिज को देखने का उनका दृष्टिकोण अध्यात्मपरक था। आध्यात्मिक ज्ञान, जिसने उनके सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित किया था, उनकी उत्कट साधना और स्वाध्याय का परिणाम था। किन्तु, उन्होंनें कभी भी अध्यात्म पर भाषण नहीं दिया और न तो अध्यात्म या उससे जुड़े अनुभवों के विषय में पूछे प्रश्नों का ही उत्तर दिया। केवल वे ही लोग जो उनके अत्यंत निकट या अंतरंग थे कभी-कभी उनकी साधना या सिद्धि की झलक पा सके। अध्यात्म जगत से जुड़े लोगों और आध्यात्मिक संस्थाओं के प्रमुखों को श्रीगुरुजी के इस आयाम का ज्ञान था जिसे श्रीगुरुजी ने सामान्य लोगों की दृष्टि से बचा लिया था। इस प्रकार के लोगों में श्रीगुरुजी की उपलब्धि सम्मान की दृष्टि से देखी जाती थी- इसी कारण जब द्वारिका के शंकराचार्य की पीठ खाली हो गई और तत्काल कोई उत्तराधिकारी नहीं मिल रहा था तो जो नाम सम्बन्धित लोगों ने

प्रस्तावित किया वह नाम श्री गुरुजी का था। उन्होंने श्रीगुरुजी को पत्र

लिखकर उस महान पद को स्वीकार करने का आग्रह किया था। उस उच्च स्थान के अनुरूप श्रीगुरुजी की आध्यात्मिक योग्यता के विषय में किसी के भी मन में सन्देह नहीं था। श्रीगुरुजी ने विनम्रतापूर्वक उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और कारण यह बताया कि वे उस स्थान के लिए अत्यन्त लघु है (यह उनकी महानता नहीं तो और क्या थी!)। इसके साथ ही श्रीगुरुजी ने एक अन्य व्यक्ति के नाम का सुझाव दिया जो उनकी दृष्टि में अत्यन्त योग्य पुरुष थे। श्रीगुरुजी का सुझाव स्वीकार कर लिया गया।

धार्मिक दृष्टि से श्रीगुरुजी हिन्दू परम्परा में श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द की व्यवस्था को पुनर्स्थापित और पुर्नप्रतिष्ठत करना चाहते थे। श्रीगुरुजी कुछ निहित स्वार्थ से ग्रस्त व्यक्तियों द्वारा जानबूझ कर बनाई गई छवि के बिल्कुल विपरीत थे। वे धर्मान्ध नहीं थे क्योंकि हिन्दू धर्म स्वभावतः उदार और सर्वसमावेशी है। इसे किसी भी पंथ और विश्वास की महत्ता स्वीकार करने में कठिनाई नहीं है, जब तक वे अपने अनुयायियों के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान तक समिति रहते हैं। यहाँ तक कि कुछ विशेष पंथों, जो अन्तिम सत्य पर अपने अनन्य अधिकार का दावा प्रस्तुत करते हैं, का दृष्टिकोण भी समझा जा सकता है, जब तक वे अपने विपरीत विचार रखने वालों की धार्मिक स्वतंत्रता का अतिक्रमण नहीं करते। जानबूझ कर, संगठित प्रयास से दूसरों पर अपनी पांथिक मान्यताएँ थोपना आपत्तिजनक है। श्रीगुरुजी का भी यहीं दृष्टिकोण था-''हम हिन्दुओं का यह विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने इष्ट की पूजा अपनी पद्धति से कर सकता है। सभी उस परमात्मा को उपलब्ध हो सकते हैं-यदि प्रयत्न सच्चा और ईमानदार हो। यही कारण है कि हिन्दू धर्म धर्मान्तरण में विश्वास नहीं करता। मतान्तरण का विचार इस कल्पना में से निकलता है कि मेरा ही पंथ सही और निश्चित है अतः दूसरों को मतान्तरित कर इसमें मिला लेना चाहिए। आप इसमें विश्वास करते हैं? यदि ईश्वर प्राप्ति का उद्देश्य है तो यह कथन, ईश्वर का अपमान है। सत्य तो यह है कि हिन्दूधर्म में, हम न केवल दूसरे पंथों या पूजा पद्धतियों के प्रति सहिष्णु हैं बल्कि उनका सम्मान भी करते हैं। यदि कुछ लोग हिन्दू धर्म स्वीकार करते हैं तो यह उनका हिन्दू धर्म में मतान्तरण नहीं है। यह तो उन लोगों को, जो भूतकाल में परिस्थितियों

से बाध्य होकर अपना मत परिवर्तन कर लिये थे, अपने पूर्वजों के धर्म में वापस लौट आने का एक अवसर प्रदान करना है। क्या यह सत्य नहीं है कि मात्र मुट्ठी भर मुसलमान हमारे देश में बाहर से आये? बाकी सभी के मतान्तरण का कारण सर्वज्ञात है। अपने पूर्वजों के घर वापस आना मतान्तरण नहीं है–यह उनकी घर वापसी है।

श्रीगुरुजी सबसे अधिक विरोध इस बात का करते थे कि कुछ निहित स्वार्थ के राजनीतिज्ञ पंथों का दुरुपयोग अलगाववादी विचारधारा के सम्पोषण में करते हैं। श्रीगुरुजी मजबूती से दृढ़तापूर्वक कहते थे– "राजनीतिज्ञ, लोगों को अधिक से अधिक बाँट कर अपना खेल खेल रहे हैं। ऐसे सभी साम्प्रदायिक मामलों में राजनीतिज्ञ शान्ति के खलनायक हैं।"

महान योग्यता, चरित्र और ईश्वर के लिए समर्पित व्यक्ति जिन्हें लोगों का नेतृत्व सम्हालना चाहिए था, कहीं नहीं दिखते। यही विचार ईसाइयों और ईसाईयत के विषय में भी लागू होता है। श्रीगुरुजी के विचार हिन्दू संस्कृति और दर्शन पर आधारित थे न कि किसी औचित्य के सिद्धान्त पर। जहाँ कहीं भी उन्होंर्ने मुसलमानों और ईसाइयों की आलोचना की, यह देखा गया कि उनका निशाना धर्म नहीं था बल्कि राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने धर्म का दुरुपयोग अलगाववादी आन्दोलन, यहां तक कि राष्ट्र द्रोहिता को बढ़ाने में किया।

जब समान नागरिक संहिता जैसा विवादास्पद गर्म मुद्दा उठा, श्रीगुरुजी ने इस विचार का समर्थन नहीं किया। श्रीगुरुजी ने कहा कि इस मामले में जब मानवीयता आधारित सुधारवादी दृष्टिकोण पहले से ही है तो यांत्रिक समतावादी विचार ठीक नहीं होगा। गुरुजी ने कहा–उन्हें अतीव प्रसन्नता होगी यदि मुस्लिम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि बहुपत्नी प्रथा उनके लिये ठीक नहीं है। वे किसी बाध्यता को पसंद नहीं करेंगे। उनका यह निश्चित मत था कि हिन्दुस्थान में सदैव से अनन्त विविधता रही है और आज भी यह एक मजबूत राष्ट्र के रूप में विद्यमान है। सबसे आवश्यक बात एकता और सामंजस्य है न कि एकरूपता। "सनातन धर्म के मर्म के अनुसार, श्रीगुरुजी ने कहा है–"हम दूसरे पंथो के प्रति केवल सहिष्णु न रहें तो उनका सम्मान करें। हमारा विचार सहिष्णुतावाद का नहीं सम्मानवाद का है।"

श्रीगुरुजी का यह दृढ़ विश्वास था कि जब भी किसी पंथ का राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उपयोग होता है या पंथ अपने अस्तित्व या अभिव्यक्ति के लिए राजनीतिक समर्थन चाहता है तो निश्चित ही वह अपने संस्थापक द्वारा निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने की क्षमता और पवित्रता दोनों खो बैठता है- वह सत्ता का चाकर बनकर भ्रष्ट होता है और चारों ओर बरबादी का कारण बनता है।

"इसे समझने के बाद भी कुछ लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि अपने धर्म-प्रसार में राजनीतिक सत्ता आवश्यक है। भूतकाल में ईसाईयत और इस्लाम, वे कहते है, चारों तरफ उनके द्वारा प्राप्त राजनीतिक सत्ता के कारण फैले। किन्तु गहराई से अध्ययन करने पर हम पायेंगे कि अन्ततः राजनीतिक सत्ता समस्या का कभी समाधान नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ, सरकार और अधिकांश लोग उस एक व्यक्ति, जीसस क्राइस्ट के विरूद्ध खड़े हो गये। उनके सलीब पर चढ़ने के बाद उनके शिष्यों का मार्गदर्शन करने वाला कोई नहीं था। लेकिन उनके हृदय आदर्शवाद से आवेशित थे। क्राइस्ट की जीवनी शक्ति से दीप्त अपनी नूतन अनुभूति के उत्साह और विश्वास के साथ वे दुनियाँ में चारों तरफ फैल गये और विश्व उनके चरणों में झुक गया। तब उनके पास कोई राजनैतिक सत्ता नहीं थी। लेकिन जैसे ही, समय के प्रवाह के साथ, उनके उत्तराधिकारी राजनैतिक सत्ता की लालच के शिकार हुए, अग्रिम पंक्ति में भ्रष्टाचार और पतन प्रवेश कर गया। ईसाईयत की वर्तमान दुर्दशा, अपने ही ईसाई देशों के जीवन को ढालने में असक्त, यहां तक कि साम्राज्यवादी राजनैतिक शक्तियों के हाथ का हथियार बन जाना, उनके उच्च स्थानों में घुसे प्रदूषण और राजनैतिक महात्वाकांक्षा का सीधा परिणाम है।

इस्लाम में विकृति के मुख्य कारण सत्तामद में चूर इसके अनुयायियों ने इस्लाम का विस्तार किया-यह हमें अच्छी तरह पता है। जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों के जागरण से इसका कोई लेना देना नहीं है।

९. अनेक मुद्दे और उसका समाधान-

श्री गुरुजी वैसे संत नहीं थे जिसे प्रत्येक सामाजिक कुरीति में पाप का ही दर्शन होता है। वे समाज विज्ञानी थे- जो कारण और प्रभाव के बीच उसके सम्बन्ध को ढूढ़ते थे और बुरे प्रभाव का निदान उसके मूल

कारणों को दूर करके करते थे। जब इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया के सम्पादक ने श्रीगुरुजी को बताया कि उसका अगला अंक वेश्यावृत्ति विषय पर निकलेगा, उस समय उसके मन में भय था कि गुरुजी इस विषय को चिमटा से भी नहीं छुयेंगे, तो गुरुजी ने अपनी स्पष्ट व्याख्या से उसे आश्चर्य चकित कर दिया। श्री गुरुजी ने कहा "यह इस पर निर्भर करता है कि आप इस मुद्दे को किस प्रकार उठाते हैं और इसके पीछे विचार कैसा है, यदि यह जनता की निम्न रूचि को अच्छा लगने के लिए किया जाता है तो निश्चित तौर से कोई भी भद्र व्यक्ति इसमें रूचि नहीं लेगा। यदि इसका प्रकाशन समस्या के भिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने के लिये हो रहा है तो इसे सबको पढ़ना चाहिए। इस बात पर भी ध्यान जाना चाहिए कि यह प्रथा मानवीय कमजोरियों का परिणाम है। जिसनें इस पेशा को हजारों वर्ष से सामाजिक आवश्यकता का रूप दे दिया है। अतः निकट भविष्य में इस पेशा को पूर्णतः समाप्त करना असम्भव है। तब इस समस्या के समाधान का एक ही ढंग होगा कि उन महिलाओं की स्थिति को, शिक्षा देकर, धर्म और भगवान के प्रति भक्ति का भाव जगाकर सुधारा जाय।

श्रीगुरुजी इस पर विश्वास करते थे कि प्रत्येक हिन्दू, चाहे वह किसी भी जाति का हो, यज्ञोपवीत और गोत्र का अधिकारी है। यदि उन्हें अपने गोत्र का पता नहीं है और इससे सम्पर्क टूट गया है तो उन्हें उनके पूरोहित का गोत्र दिया जा सकता है। प्राचीनकाल में ऐसा होता था और इसे शास्त्र की मान्यता प्राप्त है। श्री गुरुजी ने इंगित किया कि–"शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि जिसका कोई गोत्र नहीं है, वे सभी 'कश्यप गोत्र' से सम्बन्धित हैं। क्योंकि, ऐसा माना जाता है कि सभी कश्यप की ही संतान हैं। उनको समान अधिकार तथा धार्मिक रीतियों और मंदिर में पूजा, वेदों के अध्ययन और सामान्यतः हमारी सम्पूर्ण सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों में, समान सामाजिक स्थिति प्राप्त होनी चाहिए"। उनके अनुसार हिन्दू समाज में स्थित जातिवाद की सम्पूर्ण समस्या का यह एक मात्र समाधान है। श्रीगुरुजी ने इन सुझावों को सभी पूज्य शंकराचार्यो को भी निवेदिता किया था। इससे भी एक कदम आगे श्रीगुरुजी हिन्दूधर्म में मुसलमानों और ईसाइयों को भी गोत्र देकर किंचित प्रायश्चित के साथ स्वीकार करना चाहते थे।

श्रीगुरुजी ने औद्योगिकरण जैसे आर्थिक विकास के गम्भीर प्रश्नों पर भी पर्याप्त चिन्तन किया है और अपने विचार व्यक्त किये हैं जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुरूप बदलती परिस्थिति के हिसाब से बहुत सही हैं। जैसे, औद्योगीकरण के तरीका के प्रश्न पर श्रीगुरुजी ने कहा–"उद्योग के राष्ट्रीयकरण का अर्थ है राज्य का पूंजीवाद, जो उतना ही बुरा या भला है जितना कि पूंजीवाद। मैं औद्योगिक सहकारी पद्धति चाहता हूँ जिसमें सहकारिता का प्रत्येक सदस्य ही नहीं तो बड़े पैमाने पर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अधिकार बोध के कारण, कार्य से बचने की प्रवृत्ति की जगह अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य को समझेगा। भारतीय संस्कृति, समुदाय के प्रति स्वयं के कर्त्तव्य और दायित्व पर बल देती है। मैं ऐसा स्वतंत्र भारत चाहता हूँ जो अपनी प्राचीन जीवनी शक्ति को पुनः प्राप्त करे। लघु एवं गृह उद्योगों का सब तरफ विस्तार होना चाहिए। वे उद्योग के बड़े केन्द्रों के पूरक बनें। उदाहरण के लिए, जापान का औद्योगिक ढांचा इस प्रकार का है। चक्रीय उद्योग में हर पूर्जा को अलग तैयार कर उस का संयोजन अन्य केन्द्र पर किया जा सकता है। केवल कुछ विशेष रक्षा से जुड़े उद्योग विशाल उद्यम के रूप में अलग रह सकते हैं। यह कृषि और उद्योगों के बीच सामंजस्य निर्माण को सुनिश्चित करेगा। ग्रामीण और शहरी जीवन के मध्य बढ़ती असमानता को भी दूर करने में यह सहायक होगा।

श्रीगुरुजी उन लोगों से सहमत नहीं थे जो औद्योगिकरण, यांत्रिकीकरण और आर्थिक विकास को लगभग पर्याय मानते हैं। "क्या यह दृष्टिकोण सही है? के उत्तर में श्री गुरुजी ने उत्तर दिया था "यही कारण है जिसके चलते विश्व संघर्ष और युद्ध की ओर अग्रसर हो रहा है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन को दूसरे देशों को सौपने की प्रतिस्पर्धा में, एक अवस्था के बाद बाजार विस्तार के लिये संघर्ष और लड़ाई प्रारम्भ हो जाती है। दूसरे, यंत्र ने मनुष्य को बेकार बना दिया है। जो नहीं होना चाहिए। इच्छाओं को बढ़ाते जाने वाला पश्चिम का सिद्धान्त और उन इच्छाओं की पूर्ति के लिये और अधिक मशीनों पर निर्भरता का परिणाम यह होगा कि मनुष्य मशीन का दास बन जायेगा। यह जानना चाहिए कि मशीन मनुष्य की प्रसन्नता के लिये है। यह तो भष्मासुर की तरह है जो अपने निर्माता को ही नष्ट कर देगी यदि इस पर नियंत्रण न हो। नैतिक शक्ति और ज्ञान से युक्त व्यक्ति ही इस

प्रकार के भष्मासुर को निर्देशित और नियंत्रित कर सकते हैं। ऐसे सम्प्रभु अधिकारी (विशेषज्ञ) मनुष्य ही व्यक्ति की नियति को निर्देशित करने के योग्य हो सकते हैं।

शिक्षा पर श्रीगुरुजी का सुविचारित मत था कि कैसे हमारे अपने विद्यालयों के पाठ्यक्रम में धार्मिक मूल्यों को किसी विशेष धर्म का उल्लेख किये बिना सम्मिलित करना महत्वपूर्ण है। "कुछ मूलभूत सिद्धान्त स्वीकार किये जा सकते हैं-जैसे एक ही परमसत्ता सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है और उस सर्वोच्च सत्ता की अनुभूति जीवन का उद्देश्य बने। इसके अनेक रूप हैं। स्पष्ट कहा जाय तो चाहे जो भी पद्धति हो, मन का नियंत्रण और इसे गलत दिशा में भटकने से रोकना ही मुख्य बात है। योग का सिद्धान्त धार्मिक जीवन का आधार निर्मित करता है, उस धार्मिक विश्वास को चाहे जो भी नाम दें। मन की एकाग्रता के लिये योग का प्रशिक्षण अनिवार्य है। हमारा आग्रह, शमदामादि षड्सम्पत्ति (छः सद्गुणो जैसे-शान्ति, आत्मसंयम) जैसे सद्गुण बच्चों में धीरे-धीरे विकसित करने पर होना चाहिए। अभी वर्तमान पद्धति में शिक्षा कुछ सूचनाएँ और रोटी कमाने तक ही सीमित है। उन्होंने इस उद्देश्य के अनुकूल कुछ मार्ग भी सुझाए थे।

बड़े पैमाने पर धर्म की सही समझ पैदा करने वाली शिक्षा, धाखमक शिक्षा, न कि धर्म विरोधी शिक्षा जो आजकल हमारे राजनेताओं द्वारा दी जा रही है, ही अच्छी शिक्षा है। लोगों को इस्लाम की सही जानकारी दें। लोगों को हिन्दु धर्म की जानकारी दें। उन्हें शिक्षित करें कि सभी धर्म मनुष्य को स्वार्थहीनता, पवित्रता, सूचिता की ही शिक्षा देते हैं। तब इतिहास की सही शिक्षा दें। इतिहास की वर्तमान विकृतियों को सही करें। यदि गतकाल में मुस्लिम हमलावरों द्वारा आक्रमण हुआ है तो ऐसा बताएँ, और साथ ही यह भी बताएँ कि वे आक्रमणकारी विदेशी थे और उनका यहां रहने वाले मुसलमानों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ रहने वाले हमारे मुस्लिम बन्धुओं को यह कहना चाहिए कि वे इस भूमि के हैं और पहले के आक्रमणकारी विदेशी थे और उनका आक्रमण हमारी विरासत का हिस्सा नहीं हैं। सत्य के बदले मुसलमानों को विकृत इतिहास पढ़ाया जा रहा है। सत्य लम्बे समय तक छिप नहीं सकता है। चाहे कितनी लम्बी अवधि तक आप इसे छिपाकर रखें अन्ततोगत्वा उजागर होकर यह और बुरी अनुभूति ही पैदा करता है। इसलिए मेरा कहना है,

सही इतिहास पढ़ायें। यदि अफजल खान शिवाजी द्वारा मारा गया तो ऐसा कहें कि विदेशी आक्रमणकारी एक राष्ट्रीय नायक द्वारा मारा गया।''

विद्यार्थियों को संस्कृत शिक्षा देने के मुद्दे पर श्री गुरुजी खेद प्रकट करते थे कि-''महाविद्यालय स्तर पर भी इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है जिसके द्वारा विद्यार्थियों को सामान्य संस्कृत बोलने हेतु प्रेरित किया जाय- जैसा अंग्रेजी के लिये किया गया है। उनका मन इस बात के विरूद्ध विद्रोह कर उठता था कि उपाधि प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध तक की भाषा अंग्रेजी हो गई है। संस्कृत एक जीवन्त भाषा है। बहुत लोग इसे बोलते हैं, आज भी पुस्तकें और आलेख संस्कृत में प्रकाशित होते हैं। इसके बाद भी, श्रीगुरुजी को आश्चर्य होता था कि, संस्कृत निषिद्ध है।

श्रीगुरुजी का विचार, शिक्षा की हिन्दू अवधारणा के विशेष लक्षणों के विषय में एकदम स्पष्ट था। वे कहते थे- ''मनुष्य के अन्दर छिपी नानाविध प्रतिभा को पहचान कर उसे बाहर निकालना आधुनिक शिक्षा का आधार है। वर्तमान पद्धति ने कुछ सार्थक परिणाम भी उत्पन्न किया है। सभी आधुनिक देशों में विज्ञान, कला के भिन्न-भिन्न क्षेत्र में महान उपलब्धियों वाले मनुष्य हमें मिल जाते हैं। मात्र सूचनाओं को मस्तिष्क में भरते जाना और उसे कबाड़ खाना बनाना, जैसा हमारे देश में हो रहा है, शिक्षा का लक्ष्य नहीं है। शिक्षा के विषय में हिन्दू अवधारणा और आगे तक जाती है। यह मनुष्य में छुपी हुई मात्र शारीरिक और बौद्धिक क्षमता को ही प्रकट कर सन्तुष्ट नहीं होती। हमारे अनुसार जीवन केवल राग और इच्छाओं का समुच्चय नहीं है। हममें एक परम सत्य का भी निवास है। उसकी उपलब्धि और अभिव्यक्ति हमारी शिक्षा पद्धति का बुनियादी लक्ष्य है।

हमारे भारत को पंथ निरपेक्ष घोषित करने वाले नेताओं पर श्रीगुरुजी के विचार बहुत रूचिकर मार्गदर्शक हैं ''हिन्दू दृष्टिकोण से किसी राज्य को पंथनिरपेक्ष घोषित करना फालतू है। गत अनेक शताब्दियों से हमने देश में साम्प्रदायिक सौहार्द्र को बनाए रखा है। राज्य का कार्य सतर्कता से निगरानी रखना है ताकि लोग आपस में लड़ झगड़कर राज्य को कमजोर न करें। हमारी चिन्तन पद्धति में पूजा इत्यादि की स्वतंत्रता सबको है। हिन्दू विचार इसी अवधारणा का पालन करता

है। केवल बौद्ध धर्म की अन्तरिम अवधि में राज्य पंथ निरपेक्ष नहीं था, अर्थात् धर्मराज्य था। उस काल में राज्य के आर्थिक श्रोतों का उपयोग किसी खास मत विशेष के प्रचार और दूसरे को अपने विश्वासों का पालन करने से रोकना था। ये सभी दुर्भाग्यपूर्ण बातें बुद्ध के नाम पर राज्य द्वारा हुई अर्थात् बुद्ध द्वारा कहीं गई बातों को नहीं समझने के कारण ऐसा हुआ। यह हमारे राष्ट्र जीवन की महान परम्परा में एक अपवाद है। अतः एकदम हल्का शब्द 'पंथ निरपेक्ष' हमारी दृष्टि से बेकार और अवांछनीय है।

संविधान और उसमें जल्दी-जल्दी किये गये अनेक संशोधनों पर श्रीगुरुजी के विचार अत्यन्त गम्भीर हैं। "मुझे केवल इस बात का खेद है कि सरकार स्वतंत्र भारत की निर्माण अवधि में गलत मिसाल कायम कर रही है। लोगों के विश्वास की वस्तु और श्रद्धा के विषय को एक-एक करके कमज़ोर किया जा रहा है। संविधान का निर्माण एकता और शक्ति के घटक के रूप में किया जा सकता था। उन्होंने प्रारम्भ ही गलत किया एक विस्तृत संविधान की रूपरेखा बनाकर जो अत्यन्त भारी भरकम है। तब भी इसे सम्मान की वस्तु के रूप में विकसित किया जा सकता था यदि स्वयं सरकार के मन में इसके प्रति सम्मान का भाव होता। किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। प्रत्येक वर्ष एक संशोधन हो रहा है। लोगों की यह धारणा बनती है कि आप अपनी मरजी के अनुसार संविधान से खेल सकते हैं। इसकी पवित्रता भंग हुई है। मेरी इच्छा है कि वे संविधान को परखने के लिए ईमानदारी से १०-१५ वर्षों का समय दिए होते। तब हमें यह ज्ञात होता कि जैसा यह था वैसा कार्य कर रहा है या नहीं अन्यथा इसमें सुधार के लिए कहां संशोधन किया जाय। वास्तव में सरकार बिना विचारे इस पर कुठाराघात करती रही है। इसी कारण मैं कहता हूँ कि सरकार गलत मिसाल कायम कर रही है।"

१०. आदर्श हिन्दू नारी-

श्रीगुरुजी का विश्वास है कि महिलाओं की समाज में सद्भाव स्थापित करने और चरित्र निर्माण में महतिभूमिका है। इसके लिए आवश्यक है, अपने इतिहास में नारीत्व के भव्य (वीरोचित) उदाहरणों का लगन से अनुकरण करना। अपने देश में आयातित विदेशी आदर्शों की, जो अपने देश में अप्रांसगिक हैं, न तो आवश्यकता है और न ही यह

उचित है। इसके विपरीत यह समाज को विशृंखलित और हमारे मूल्यों को नष्ट ही करेगा। नारी के दो महान आदर्श जिनका उल्लेख प्रायः श्रीगुरुजी करते थे, विदुला और सावित्री का अनुकरण हितकारी है। विदुला के विषय में वे कहते है, महाभारत में एक सुन्दर कहानी का वर्णन है। एक विदुला नामक रानी थी। उसने अपने पुत्र संजय को युद्ध मैदान में भेजा किन्तु वह घबड़ा कर भयाक्रान्त हो गया। वह दुश्मन को पीठ दिखाकर चौकड़ी भरते हुए घोड़े से राजधानी भाग आया। जब विदुला ने अपने हताश पुत्र को देखा तो किले का प्रवेश द्वार बन्द कर दिया और बुरी तरह से उसे फटकारा। माता और पुत्र के मध्य संवाद, विदुला-संजय सम्वाद के रूप में प्रसिद्ध है, जिसमें विदुला अपने पुत्र का मार्गदर्शन करती है कि एक बहादुर योद्धा को युद्ध मैदान में स्वयं कैसा व्यवहार करना चाहिए। इसके बाद वह उसको आदेश देती है कि युद्ध में जाओ और एक विजयी नायक की तरह लौट कर आओ। जैसा कहानी कहती है; संजय तीव्रता से युद्ध मैदान में कूद पड़ा और अनुकरणीय शौर्य का प्रदर्शन किया और एक बहादुर की तरह वापस लौटा अपनी माँ के पास। कुन्ती के वे शब्द बड़े उल्लेखनीय हैं जब पांचों पाण्डव युद्ध में जाने से पहले उसका आशीर्वाद लेने पहुँचते हैं।

यदऽर्थम क्षत्रिय सुते तस्य कालोयमागताः
न हि वैरम् समानाध्या सीदन्ति पुरुषर्सभाः

(वह क्षण आ गया है जिसके लिए क्षत्रिय माता पुत्र को जन्म देती है। शेर दिल दुश्मनों के समक्ष भयाक्रान्त नहीं होते।)

"मेरा यह निश्चित मानना है कि यदि हमारी माताएँ समाज के उत्थान का संकल्प करें, तो कोई भी शक्ति चाहे इस लोक की हो या दूसरे, उन्हें पराभूत नहीं कर सकती। सावित्री का आदर्श, जिसके समक्ष मृत्यु का देवता भी पराजय स्वीकार कर लिया, उनके सामने है। वे आदर्श के प्रति अपने अन्दर एकनिष्ठ समर्पण, उत्कृष्ट निर्मल चरित्र, अद्वितीय वीरता पैदा करें। एक बार हमने इसे कर लिया, तो मुझे विश्वास है, लम्बी निशा का अवसान होगा और नये प्रभात की स्वर्णिम किरणें, न केवल भारत के क्षितिज पर बल्कि सम्पूर्ण विश्व में, हमारे धर्म की नूतन दीप्ति के साथ, फैल जायेंगी।

महाभारत में एक और श्लोक है जिसका कथन है–"माताएँ ऐसे पुत्र को जन्म नहीं दें जो मौन रहकर अपमान सहे, जो शक्ति और पुरुषोचित शौर्यविहीन तथा बैरी को प्रसन्नता देने वाला हो।"

मातृत्व की महान गुणवत्ता, जो उनके अन्दर स्वभावतः रची बसी है, के साथ समाज परिवर्तन में महिलाएँ घरेलू जिम्मेदारियों द्वारा निर्धारित मर्यादा में कार्य करते हुए भी, प्रचण्ड रूप से प्रभावी भूमिका निभा सकती हैं। श्रीगुरुजी सुझाव देते हैं– वे अपनी प्रतिवेशी महिलाओं से सम्पर्क स्थापित कर ऐसे कार्यक्रम का संचालन कर सकती हैं, जो उनके और उनके बच्चों के मन में हमारे उदात्त विचारों को अन्तर्निवेशित करे। परस्पर सहयोग और सेवा भावना को भी उनके मध्य दिन प्रतिदिन के सामाजिक मिलन के माध्यम से लोकप्रिय बनाना होगा। हमारे नारी समुदाय में हीन ग्रंथि और लाचारी का भाव नहीं पैदा होने पाये। उन्हें यह बताया जाना चाहिए कि वे साक्षात् पराशक्ति (दुर्गा) की प्रतीक हैं। हमारे पास ऐसी शिक्षित माताएँ बहुत कम है जिनके पास कुछ समय और ऊर्जा है किन्तु वह भी गपशप या फैशन कलवों में व्यर्थ चला जाता है। उनके लिये कुछ उपयोगी सुझाव हैं। उनके पड़ौस में अनेकों लड़के और लड़कियाँ होंगी जो स्कूल नहीं जाते। वे उन बच्चों को अपने घर में या अन्यत्र सुविधाजनक स्थान पर एकत्रित कर उन्हें खेल, कहानियाँ, गीत इत्यादि के माध्यम से व्यस्त रख सकती हैं।

यद्यपि घर की देखभाल की जिम्मेदारी और कर्तव्य तथा इसकी पवित्रता तथा निर्मलता को सुरक्षित रखने के साथ ही बच्चों का आदर्श तरीके से लालन पालन की अनिवार्य प्रतिबद्धता महिलाओं की ही होती है।

श्रीगुरुजी का विश्वास था कि महिलाओं की समाज के प्रति विशेष भूमिका है और वे इसके लिए बिल्कुल योग्य हैं। वे न तो महिलाओं की पृथकता के समर्थक थे और नहीं वर्तमान युग के स्त्रीवाद के पक्षधर। वे चाहते थे कि महिलाएं पूर्णतः शिक्षित एवं समाज के अनुकूल बनें। उन्होंने कुछ निश्चित उपयोगी सुझाव दिए हैं जिनका हमारी प्रबुद्ध माताओं एवं बहनों को आत्मसात कर लगातार अभ्यास करना चाहिए। महिलाओं के बीच साक्षरता अभियान एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम है जिसे हमारी केवल शिक्षित माताएँ ही सफलतापूर्वक सम्भाल सकती हैं। इसके साथ ही उन्हें

उच्च संस्कार देने के कार्य को प्राथमिकता देनी चाहिए, वर्णमाला का ज्ञान द्वितीय स्थान पर है। ऐसा करने के लिए उनके भीतर अपनी मातृभूमि के लिए पावन भक्ति की भावना, धर्म में विश्वास तथा अपने इतिहास के प्रति अभिमान का भाव भरना होगा। उन्हें हमारी पवित्र भारत माता के मानचित्र दिखाएँ और दिखाए पवित्र झरने और पहाड़, तीर्थ और मंदिर जो हिमालय से कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। उन्हें हमारे राष्ट्रीय जीवन की विविध समृद्धि भाषा साहित्य, कला और सामाजिक परम्पराओं से परिचित करायें। उन्हें अपने राष्ट्र जीवन के सही स्वरूप से अवगत करायें।

११. जीवन्त प्रतिमूर्ति-

अपने देश के भविष्य में श्रीगुरुजी का प्रचण्ड विश्वास था। उनका यह भी विश्वास था कि स्वर्ण युग के अवतरण हेतु मात्र आशा और विश्वास ही पर्याप्त नहीं है। उनके द्वारा किया गया परिस्थितियों का निदान व्यावहारिक था, न निराशावादी न आशावादी। भविष्य एवं उसे प्राप्त करने के मार्ग के विषय में उनकी अन्तर्दृष्टि का निचोड़ इस प्रकार था-हमारी वास्तविक कठिनाई यह है कि इस देश में हमारे समक्ष कोई लक्ष्य ही नहीं है। जीवन लक्ष्य का बोध नहीं है। इसके बिना कोई देश महान नहीं बन सकता। हम केवल अस्तित्व में न रहें तो, हमें जीना भी सीखना है। भारत को विश्व को यह बताना है कि आध्यात्मिकता सांसारिक जीवन को नकारती नहीं है, यह वास्तव में उसको पूर्ण करती है। जब तक हम राष्ट्र के नाते ऊँचा लक्ष्य नहीं अपनाते और इसे प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते, लोगों की ऊर्जा मुक्त नहीं होगी और कोई महान उपलब्धि भी नहीं होगी। वर्तमान परिस्थिति की शोकान्तिका यह है कि जिनके अन्दर राष्ट्रभक्ति की प्रवृति है, जिन्हें कार्य करना चाहिए वे एक दम कार्य नहीं करते और राष्ट्र विरोधी ताकतें प्रचण्ड ऊर्जा से काम करती हैं। रावण बहुत सक्रिय था, वह तीनों लोकों में युद्ध किया और सर्वस्व जीता। किन्तु जनक तथा अनेक दूसरे अच्छे लोग मात्र बैठे रहे, परब्रह्म की कल्पना में निमग्न या यज्ञ और तपस्या में लीन। जब एक अत्यन्त सक्रिय व्यक्ति, राम सामने आये तो पूरा परिदृश्य बदल गया। वे वनवास के नाम पर पूरे देश का भ्रमण किये और एक विशाल सैन्य शक्ति एकत्र कर रावण को परास्त किये। इसका एक ही अर्थ है कि मनुष्य केवल अच्छा ही न बनें उन्हें सक्रिय और कर्मठ भी होना चाहिए

तभी बुराइयाँ रूक सकती हैं। हम जैसा चाहे वैसा भविष्य बना सकते हैं।
सभी चीजें इस बात पर निर्भर करती हैं कि हम कैसी इच्छा करते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कितना करते हैं। आपने यह सुभाषित सुना होगा :-

उद्यमेन ही सिध्यन्ते कार्याणि न मनोरथैः
न ही सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः

प्रयत्न द्वारा ही कार्य सम्पादित होते हैं न कि इच्छा मात्र से। सोये हुए सिंह के मुंह में शिकार अपने आप प्रवेश नहीं करता।

समर्थ रामदास की घोषणा है- ''प्रयत्न ही परमात्मा है''

१२. साधना और स्वाध्याय के लिए-

जैसाकि हम सभी जानते हैं, श्रीगुरुजी सभी सद्गुणों, जिनका उपयोग उन्होंने सदैव राष्ट्र की भलाई के लिये किया, की प्रतिमूर्ति थे। ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम मिलते हैं जिन्होंने अपने जीवन का प्रत्येक पल और अपनी ऊर्जा का प्रत्येक कण उदीयमान भारत के महान सपने की पूर्णता के लिए समर्पित कर दिया।

भारत की सर्वोच्च महानता का एक मात्र लक्ष्य उनके समक्ष था। सामर्थ्यशाली और अच्छी तरह संगठित हिन्दू समाज ही इसकी उपलब्धि का निश्चित साधन है। सम्पूर्ण देश में स्वयंसेवकों का संजाल खड़ा करना, जो देशभक्ति की भावना से सराबोर, अनुशासित और समर्पित, व्यक्तिगत चरित्र और राष्ट्रीय चरित्र से भरपूर, राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने आपको समर्पित करने के इच्छुक और सदैव तैयारं ऐसे मनुष्य का निर्माण उनके जीवन का पवित्र उद्देश्य था जिसके लिये श्रीगुरुजी ने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। श्री शंकराचार्य और स्वामी विवेकानन्द की तरह हिन्दु समाज की एकता और राष्ट्र की महानता का संदेश देते हुए देश के एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा करते रहे। कोई दूसरा नेता देश का उतनी बार दौरा नहीं किया जितनी बार श्रीगुरुजी ने किया। वे एक शास्वत यात्री थे। हमेशा चलने वाले तीर्थयात्री। जैसा विवेकानन्द ने देखा उनकी पूजनीया देवी भारतमाता है उनके होठो का मंत्र था 'भारतमाता की जय'। उन्हीं की तरह अपनी प्रतिबद्धता के प्रति ईमानदार श्रीगुरुजी जब विदा हुए उनके होठों पर वहीं

मंत्र था 'भारत माता की जय'। स्वाभाविक तौर से जो कोई भारतमाता की सेवा की इच्छा रखते हैं, उनके लिए श्रीगुरुजी का जीवन, प्रेरणा की जलती मशाल है।

श्रीगुरुजी को जानने के लिए भारत की आत्मा को जानना होगा और उनका अनुसरण करने के लिए अपने जीवन में देशभक्ति की साधना करनी होगी। उनके भाषण, उनके लेख, उनके पत्र और उनके वार्तालाप, सभी इस महान देश की बहुआयामी महानता और गौरव की निष्कपट अभिव्यक्ति हैं। जैसाक़ि हम श्रीगुरुजी की जन्मशताब्दी मना रहे हैं, यह गौरवमयी उपलब्धि है कि संघ बारह भागों में उन सभी प्राप्त साहित्यों को प्रकाशित कर रहा है जिसे श्रीगुरुजी ने हमें वसीयत में दी थी। वे विशाल भंवन के झरोखा हैं, दुर्लभ पुष्प की सुगंध, उन सभी भाग्यशाली महानुभावों के लिये जो उनका अध्ययन करते हैं – शक्ति का चिरस्थायी उत्स हैं। विश्व के सांस्कृतिक वांङ्मय का यह सबसे नूतन संस्करण है–आनेवाले दिनों की महान थाती।

अनुवादक
–रामशीष

जीवन परिचय पूज्य श्री गुरूजी

* *पूरा नाम* : पू. माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर।
* *माता-पिता* : वन्दनीया लक्ष्मीबाई, श्री सदाशिवराव। माता-पिता की नौ संतानों में अकेले जीवित थे। *जन्म* : फाल्गुन कृष्ण एकादशी (विजया एकादशी) विक्रम संवत् 1963 तदनुसार 19 फरवरी 1906, नागपुर।
* अन्य धर्मों के ग्रंथों का भी गहन अध्ययन। बाईबिल का गलत संदर्भ आने पर अपने ईसाई प्रधानाचार्य गार्डिनर को टोका।
* 1928 में एम.एस.सी. (जीव विज्ञान) की परीक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से उतीर्ण तथा 1931 से 33 तक वहीं पर अध्यापन। 'गुरू जी' उपनाम विद्यार्थियों के स्नेह के कारण मिला। यही से संघ के संपर्क में आए।
* 1934 में नागपुर की तुलसीबाग शाखा के कार्यवाह बनें तथा इसी वर्ष कार्य विस्तार के लिए मुम्बई गए।
* 1935 में नागपुर से एल.एल.बी. की परीक्षा उतीर्ण की।
* 1936 में अमिताभ महाराज के साथ दीक्षा लेने स्वामी अखंडानन्द जी के सागरगाछी आश्रम गये।
* 13 जनवरी 1937 को दीक्षा प्राप्त हुई। इसी वर्ष अपने गुरू के निधन के बाद नागपुर वापस।
* 1939 में ही कलकत्ता कार्य विस्तार हेतु गए।
* बाबाराव सावरकर की "राष्ट्र-मीमांसा" पुस्तक का अनुवाद किया जो 'वी-आवर नेशनहुड डिफाईन्ड' (We–Our nationhood defined) नाम से छपी। 13 अगस्त 1939 को सर कार्यवाह बनें।
* 3 जुलाई 1940 को प्रथम सरसंघचालक प्रणाम उन्हें दिया गया।
* "मैं डा. हेडगेवार का दाहिना हाथ था तो गुरूजी उनके हृदय थे" अप्पाजी जोशी का वकील महोदय को उतर।
* देश विभाजन के समय (8 अगस्त, 1947 तक) पंजाब व सिंध प्रांत का प्रवास किया।
* महात्मा गाँधी की हत्या पर शाखाओं पर 13 दिन का शोक रखने हेतु सर्वदूर तार द्वारा संदेश।
* संघ पर प्रतिबंध: 1 फरवरी 1948 को गिरफ्तार जबकि संघ पर प्रतिबंध 4 फरवरी को लगा।
* 44 दिनों के सत्याग्रह में 77,090 स्वयंसेवक पूज्य गुरूजी के आह्वान पर जेल गए।
* विश्व हिन्दू परिषद् जैसे अनेकों संगठनों की शुरूआत की। वर्ष भर में पूरे देश की तीन बार परिक्रमा करते थे तथा लगभग 40,000 पत्र लिखे।
* 18 अक्टूबर 1947 को कश्मीर के महाराजा से भेंट, कश्मीर का भारत में विलय।
* भारत पर चीन के आक्रमण का पूर्व संकेत दिया।
* 3 मई, 1970 को कर्क (कैंसर) रोग है इसकी जानकारी हुई। (बीमारी में भी 23-25 मई, 1970 को प्रतिनिधि सभा में उपस्थित रहें।) 1 जुलाई को टाटा मेमोरियल, मुंबई में शल्य-क्रिया।
* 2 अप्रैल, 1973 को रामटेक स्थित अपना घर 'भारतीय उत्कर्ष मंडल' नामक संस्था को दान कर दिया।
* 5 जून 1973 को महाप्रयाण। 'भारत माता की जय' प्रार्थना की यह अंतिम पंक्ति उनके मुँह से निकले अन्तिम शब्द थे।

लेखक – श्री पी. परमेश्वरन

परिचय – केरल के प्रसिद्ध विचारमंच भारतीय विचार केन्द्र के संस्थापक अध्यक्ष तथा कन्याकुमारी स्थित विवेकानन्द केन्द्र के अध्यक्ष। पद्मश्री से सम्मानित सुप्रसिद्ध चिंतक एवं ग्रंथकार।

सहयोग राशि : तीन रु. मात्र